

स्वानुभूतिप्रकाश

वीर संवत्-२५३८ अंक-१७४, वर्ष-१५, मार्च-२०१२

अषाढ वद ८, गुरुवार, दि.२७-७-१९७८, बहिनश्री के वचनामृत -
१३३ पर पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का प्रवचन, प्रवचन - ४९

ज्ञानी चैतन्यकी शोभा निहारने के लिये कुतूहल बुद्धिवाले -
आतुर होते हैं। अहो ! उन परम पुरुषार्थी महाज्ञानियोंकी दशा कैसी
होगी जो अंदर जाने पर बाहर आते ही नहीं ! धन्य वह दिवस
जब बाहर आना ही न पड़े।।१३३।।

धर्मीजीव सम्यक्दृष्टि हो उनकी दृष्टि ज्ञायक पर होती है। ज्ञायक जो
त्रिकाल ज्ञायक स्वभाव, अनन्त अनन्त चैतन्य रत्नाकर, इसमें अनन्त आनंद
सागर से भरा प्रभु उसकी जिसे दृष्टि हुई है, पर्यायबुद्धि गई है, एक अंश
वर्तमान रागादि की बुद्धि के अभावपूर्वक जिन्हें त्रिकाली ज्ञायक स्वरूप का
अंतर में, दृष्टि में निर्विकल्प स्वीकार हुआ है, उन्हें यहाँ समकिति और धर्म
का प्रथम शुरुआती कहा गया है। आहा..हा..! अब यहाँ तो और आगे ले जाते हैं।

'ज्ञानी...' आहा..हा..! 'चैतन्य की शोभा निहारने के लिये..' आहा..हा..! भगवान
अनन्तगुण से (शोभित हैं)। जैसे शरीर पर रत्नों के गहने पहने हो तो शोभित
ठाठ लगता है वैसे यह भगवान अनन्त गुणों के रत्नों से शोभित हैं। अनन्त
गुणों का अलंकार जिन्हें हैं। आहा..हा..! धर्मीजीव उन्हें कहते हैं कि जिन्हें आत्मा
ज्ञानानंदस्वरूप अनुभव में आकर प्रतीत हुई है। 'ज्ञानी चैतन्य की शोभा निहारने
के लिये...' जिसमें अनंत ज्ञान, अनन्त आनंद, अनन्त शांति, अनन्त स्वच्छता, अनन्त प्रभुता ऐसे-ऐसे
अनंत रत्नों से शोभित अलंकार सहित प्रभु हैं। आहा..हा..! धर्मीजीव ऐसी 'चैतन्य की शोभा निहारने
के लिये...' हैं ? 'कुतूहलबुद्धिवाले...' कुतूहलबुद्धि- जैसे कोई नई चीज देखनी हो तो वहाँ कुतूहल
होता है न ? ऐसे क्यों ? यह क्या है ? वैसे अंदर में चैतन्यस्वरूप भगवानआत्मा जिसे दृष्टि में
व ज्ञान में पहले जाना है, अनुभव में आया है अब अंतर में चैतन्य की पूर्णता को निहारने हेतु,
कुतूहलबुद्धिवाले (है कि) यह क्या है ? आहा..हा..! है ?

'कुतूहलबुद्धिवाले - आतुर होते हैं।' आहा..हा..! जिसे आत्मज्ञान हुआ है और इस आत्मज्ञान
में जो आनंद आदि अनंत चैतन्य रत्नाकर का अनुभव हुआ है उसका अनुभव करने के लिये, आगे
बढ़ने के लिये अंतर में कुतूहलबुद्धि करते हैं कि यह क्या है ? यह विस्मयकारी ? अमाप, अमाप



जिनके गुणों का माप नहीं और एक-एक गुण की अनन्तता जिनकी शक्ति है ऐसी कुतूहलबुद्धिपूर्वक देखने के लिये आतुर होते हैं। हैं ? कुतूहलबुद्धिवाले - आतुर होते हैं। आहा..हा..! क्योंकि अंतरमें से बाहर निकलना और शुभभाव में आना वह भी संसार और बंधन है। आहा..हा..! चैतन्य स्वयंभू रत्नाकर - रत्न का आकार समुद्र आहा..हा..! उसे ज्ञान द्वारा देखने के लिये अंतर में आतुर हैं। कुतूहल है - आतुर है। उसमें से बाहर निकलना उन्हें सुहाता ही नहीं। आहा..हा..!

'अहो। उन परम पुरुषार्थी महाज्ञानियों की..' परम पुरुषार्थी, जिनकी स्वरूप में ही केवल तन्मयता हो चूकी है। आहा..! अतीन्द्रिय आनंद आदि अनन्त गुणरत्नाकर जिनकी शोभा व अलंकार है... आहा..हा..! जिसका अनुभव करने, जिसे निहारने के लिये जो अंतर में महापुरुषार्थी (है) है ? **'परम पुरुषार्थी महाज्ञानियों की..'** आहा..हा..! राजकुमार चक्रवर्ती के पुत्र हो या खुद चक्रवर्ती हो, उन्हें आत्मज्ञान का अनुभव होता है। विशेष अंतर में जाने हेतु, निहारने हेतु वे गृहस्थाश्रम का त्याग करके वन में चले जाते हैं। आहा..हा..! वन में अंतर में आत्मा को निहारने (चले जाते हैं)। बाहर में चाहे सिंह की, बाघ की गर्जनाएँ हो, घोर अंधकार हो, जंगल में चारों तरफ हजारों की तादात में पैड़-पौधे हो, ऐसी स्थिति में स्वयं अंतर आनंद में जाते हैं। आहा..हा..! जो निधि सम्यक्ज्ञान में व सम्यक्दर्शन में प्रगट हुई उसका विशेष अनुभव करने अंतर में जाते हैं। आहा..हा..! ऐसी बातें हैं।

ऐसे महापुरुषार्थी, **'महाज्ञानियों की दशा..'** आहा..हा..! जिनका बाहर में देखना भी छूट जाता है। अंतर देखने में जहाँ कुतूहल करके अंतर में जाते हैं,... आहा..हा..! यह कैसी दशा होगी ? ऐसे **'महाज्ञानियों की दशा कैसी होगी। कि अंदर जाने पर बाहर आते ही नहीं।'** भीतर में आनंद स्वरूप में गये.. आहा..हा..! जम गये अंतर में! जो बाह्य

शुभ विकल्प में भी नहीं आते। अशुभ में तो नहीं किन्तु शुभ में भी नहीं आते। क्यों ? महाव्रत आदि के परिणाम विकल्प है वह बंध का कारण जगपंथ है। आहा..हा..! ऐसा जो अंतर मोक्ष का मार्ग अंतर में देखा है वहाँ जो अंतर में मोक्षमार्ग देखा है वहाँ उसे निहारने उसकी दशा अंतर में गई सो गई। आहा..हा..!

चैतन्य के ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय की त्रिपुटी को भूलाकर अभेद में अंदर लीन (होने) गये। गये सो गये। आहा..हा..! क्या कहा यहाँ ? जिसको आत्मा के आनंद का रस उजागर हुआ है आहा..हा..! वह उस रस की घूँट-घूँट पीने के लिये..आहा..हा..! अंतर में जाता है और जाने के बाद बाहर नहीं आता। आहा..हा..! बाहर आये जब तो विकल्प उठता है। चाहे तो भगवान की भक्ति का हो या व्रत का हो या दया-दान का हो, ऐसे विकल्प तो संसार है, भव का कारण है। आहा..हा..! पाप के परिणाम की तो क्या बात करें ? आहा..हा..! वह तो संसार का बड़ा बिल है। पाप के अशुभ परिणाम, सारे दिन कमाना और भोग-विषय और पैसों का उपार्जन, व्याज का उपार्जन और ऐसा-ऐसा किया, बच्चों को संभाला, स्त्री को राजी रखा... आहा..हा..! ये सब तो अशुभ भावोंरूप सर्प का बिल है। उसमें तो जहरीले स्वाद है। परन्तु शुभभाव में आना वह भी जहरीला स्वाद है, कहते हैं। आहा..हा..! अंदर में चिदानन्द आनंद स्वरूप प्रभु! जिसने अंतर में, ज्ञान में देखा और आनंद का अनुभव जिसने किया है। आहा..हा..! ऐसा जो धर्मी, महापुरुषार्थी, महाज्ञानियों जो अंतर में गये, अंतर में, आहा..हा..! वे जो गूम हुए वे बाहर नहीं आये। आहा..हा..! कुछलोग ऐसा कहते हैं न कि भाई! पर की सेवा करने, भक्ति करने या दूसरों के उद्धार हेतु अगर एकाद भव हो तो कोई बात नहीं। एक भव अगर करना पड़े (ऐसा जो मानते हैं) वे तो मूढ़ हैं, मिथ्यादृष्टि हैं। आहा..हा..! सम्यक्दृष्टि को तो बाहर

के विकल्प में आना भी नहीं सुहाता। आहा..हा..! यहाँ तो विशेषदशावाला लिया न ? जो अंतर में जम गये हैं। निर्विकल्प परिणति द्वारा अंतर में जम गये हैं, इसमें से बाहर नहीं आते। आहा..हा..!

'धन्य वह दिवस...' यह भावना, समकित दृष्टि को ऐसी भावना होती है कि **'धन्य वह दिवस जब बाहर आना ही न पड़े...'** आहा..हा..! इसके बजाय जो बाहरी उत्साहयुक्त विकल्प में लाने में और जगत के मानादि लेने के लिये (उत्साहित होनेवाले) आहा..हा..! वह तो मिथ्यादृष्टि है। आहा..हा..! दुनिया में कीर्ति हेतु और दुनिया में अपनी आबरू बढ़ाने के लिये... आहा..हा..! ये बातें सब कठिन बहुत लगे, बापू! मोक्षमार्ग तो वीतरागभाव है न ? मोक्षमार्ग तो वीतरागभाव है। वीतरागभाव तो अंतर में गुप्त हो जाये तब प्रगट होता है। आहा..हा..! समझ में आया ?

मोक्षमार्ग है वह वीतरागभाव है। जीव चतुर्थ गुणस्थान से जितना अंतर में एकाग्र होवे, उतनी वीतरागता प्रगट हुई, उतना मोक्षमार्ग शुरू हुआ। आहा..हा..! और इसमें आगे जाकर अंतर में जम गया। ऐसा जम गया कि बाहर आया ही नहीं। आहा..हा..! और जिसे अंतर्मुहूर्त में केवलज्ञान हो जाता है। ऐसी दशा कब हो ऐसी समकित्ता को भावना होती है। उन्हें ऐसी भावना नहीं होती कि, ऐसा शुभभाव करूँ और दुनिया को समझा दूँ और दुनिया समझे तो मुझे लाभ होगा कुछ। आहा..हा..! किसको लाभ होगा ? भाई ! आहा..हा..!

'समाधिगतक' में आज आया था कि, मैं किसी को समझाऊँ या मैं पर से समझ लूँ ये सब उन्मादता (है), उन्माद है। आहा..हा..! क्योंकि वे सब विकल्प हैं। आहा..हा..! मैं दूसरों को समझा दूँ... आहा..हा..! ऐसा जो विकल्प है वह उन्मादता, घेलछा (पागलपन) है, ऐसा कहते हैं। मैं पर से समझ लूँ वह भी पागलपन है। आहा..हा..! भगवान को समझनेवाला तो प्रभु अंदर पूर्ण विराजमान है

न ! वही अपने आप को समझाता है और वही अपना स्वयं का गुरु है। आहा..हा..! यह निश्चय की बात यहाँ पर है बाद में व्यवहार से फिर तो आरोप किया जाता है। निश्चय तो स्वयं जब स्व की समझ करके स्व का गुरु होता है तब बाहर में गुरु को निमित्तरूप कहा जाता है। आहा..हा..! ऐसी बातें हैं।

मुमुक्षु :- दो गुरु हुए। एक निश्चयगुरु और दूसरे व्यवहार गुरु।

पूज्य गुरुदेवश्री :- व्यवहार का मतलब ही आरोपित वह आरोपित कथन है। जैसे निश्चय समकित है वह आत्मा का अनुभव और अनुभव में अंतर प्रतीति ऐसे निश्चय समकित के वक्त जो देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा आदि का राग (है) वह व्यवहार समकित है, आरोपित है। वह तो राग है, आरोपित है। वह जो नहीं है उसका जीवको ज्ञान, निमित्त का ज्ञान कराने उसे व्यवहार समकित कहा। वैसे गुरु जो निमित्त हैं उन पर लक्ष जाता है वह राग है। आहा..हा..!

मुमुक्षु :- सच सुने बिना नहीं होता।

पूज्य गुरुदेवश्री :- सुने बगैर ही हो जाये ऐसा है, यहाँ तो कहते हैं। होता है, सुनना होता है, शास्त्र अभ्यास भी होता है, आगम अभ्यास भी होता है। वस्तु है। लेकिन अभ्यास करके भी जाना कहाँ है ? आहा..हा..! जहाँ विकल्प न उठे ऐसी स्थिति में जाना है। आहा..हा..! वीतराग के वचन वीतरागता को दर्शाते हैं। वीतरागता जो दिखाते हैं वह स्व के आश्रय से होती है। अतः जिन्हें स्व के आश्रय से सम्यक्दर्शन हुआ, वीतरागता हुई, वह पूर्ण वीतरागता के लिये अंदर में भावना भाते हैं मैं कब पूर्ण होऊँगा! आहा..हा..! श्रीमद् में नहीं आता ?

एकाकी वीचरतो वळी स्मशानमां

वळी पर्वतमां वाघ सिंह संयोग जो;

(श्रीमद्) गृहस्थाश्रम में थे फिर भी भावना

तो ऐसी करते हैं।

एकाकी वीचरतो वळी स्मशानमां,
वळी पर्वतमां वाघ सिंह, संयोग जो,
अडोल आसन, ने मनमां नहीं क्षोमता,

शरीर स्थिर हो जाये किन्तु मन में भी क्षोभ न हो। शरीर तो जड़ है स्थिर हुआ परन्तु मन में क्षोभ का विकल्प नहीं। आहा..हा..!

परम मित्रनो जाणे पाम्या योग जो। अपूर्व.११.

आहा..हा..! शरीर मेरा नहीं है, मुझे चाहिये भी नहीं, मेरे कारण से रहा नहीं और जिसे चाहिये वह मेरा मित्र है। सिंह आया न ? (तो कहते हैं) वह तो मित्र है। आहा..हा..! ऐसी वीतरागता की भावना समकिति भाता है। आहा..हा..! चक्रवर्ती के राजकुमार जिनके यहाँ मणिरत्न की फर्स हो, ऐसे राजकुमार जिनके घर सेंकड़ों बड़े-बड़े राजाओं की बेटियाँ हो परन्तु उनको जैसे ही भीतर में भान होता है, और भानपूर्वक अंतर में जाना चाहते हैं। माता ! जनेता ! मुझे आज्ञा दीजिये मैं अपने आनंद में जाना चाहता हूँ। वन में तो निमित्त है। मेरा नाथ ज्ञायक मुझे अनुभव में आया है। यह आनंदस्वरूप प्रभु आत्मा है। माता ! आहा..हा..! हमें एक क्षण भी बाहर में नहीं सुहाता है, माँ ! ऐसी रानियाँ और रत्नों की फर्स, अरे..! संगेमरमर की फर्स, क्या कहते हैं इसे ? स्फटिक, रावण के घर में स्फटिक की फर्स थी। स्फटिक, स्फटिक की फर्स। ये क्या है ?

भगवान आत्मा आनंद का नाथ प्रभु मेरा, मुझे इसकी भूमि में जाना है, जहाँ आनंद की फसल है। उसके लिये जाते समय आज्ञा लेने के लिये ऐसा बोलते हैं, माँ को कहते हैं, माँ। आहा..हा..! माँ! एकबार रोना है तो रो ले माँ! अब हम फिर दूसरी माँ नहीं करेंगे। दूसरी माँ अब नहीं करेंगे। हम तो अंतर में जाकर भव का अभाव करेंगे। आहा..हा..!

जिनके यहाँ नीलमणी की टाईले और जिनके घर रानियाँ अरबों रुपये लेकर आयी हो अपने बाप (के घरसे) आहा..हा..! ये हम नहीं माँ! ये हम नहीं। हम जहाँ है वहाँ यह नहीं है और यह जहाँ है वहाँ हम नहीं। आहा..हा..! हम तो अतीन्द्रिय आनंद के रस के रसीले हैं। प्रभु ! माँ ! इसका आस्वादन करने अंतर में जाते हैं। हम अकेले जंगल में (जाते हैं) आहा..हा..! बापू ! मार्ग कोई न्यारा है, भाई ! आहा..हा..! केवल बाहर का वनवास नहीं है। हम तो अंतर में आनंद का रस लेने जा रहे हैं। आहा..हा..! इतना ही नहीं कोलकरार करते हैं, माता ! दूसरी माँ नहीं करेंगे अब। हम इसी भव में मोक्ष जानेवाले हैं। हम अंदर में जायेंगे फिर अब बाहर नहीं आयेंगे। आहा..हा..! वह पुरुषार्थ कैसा होगा ?

मुमुक्षु :- चतुर्थकाल की बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री :- चतुर्थ नहीं, पंचम आरे में भावना होती है न ! पंचम आरे के समकिति को ऐसी ही भावना होती है। आहा..हा..! समझ में आया? आहा..हा..! कैसे शब्द है देखो न !

'धन्य वह दिवस जब बाहर आना ही न पड़े।' आहा..हा..! ये आनंद के अनुभव में मशगूल होकर वीतराग भाव में लीन हो गये। ऐसा दिन कब आयेगा कि हमारी वैसी दशा होगी, ऐसा कहते हैं। आहा..हा..! धर्मी की ऐसी भावना होती है। उन्हें मैं ऐसा व्यापार करूँ, ऐसा करूँ, बाहर प्रसिद्धि प्राप्त करूँ, वह सब तो मिथ्यात्वभाव है। आहा..हा..! उसका कर्ता होता है वह मिथ्यात्व है। आहा..हा..! कठिन काम है, बापू ! लेकिन उसके फल भी अनन्त आनंद है न !! **'धन्य वह दिवस जब बाहर आना ही न पड़े।'** आहा..हा..! वे आनन्द में जम गये सो जम गये। समझे वे अंदर थम गए। यह 'श्रीमद्' में आता है। समझे वे समा गये अंदर में जम गये। आहा..हा..! १३३. (बोल पूरा हुआ)

चिंतामणी रत्न

विनय पूर्वक सुनने में आया हुआ श्रुत यदि किसी भी प्रकार प्रमाद से विस्मृत हो जाय तो दूसरे भाव में वह उपस्थित हो जाता है और केवलज्ञान को भी प्राप्त कराता है। (५७६)

(श्री धवला पुस्तक-९, पृष्ठ-२५९)



कोई मनुष्य शुद्ध, स्वादिष्ट, स्वच्छ अमृत जैसा मिष्ठान खाता हो और शत्रु उसमें जहर मिला दे, वैसे ही मैं अब संसार से विरक्त होकर, मेरे अंतर में धर्मरूपी परम अमृत का भोजन लेने को तत्पर हुआ हूँ इस समय उसमें राज्यलक्ष्मी को भोगने का विष मिलाकर आप स्वजन शत्रु का कार्य न करो। (५८३) (आचार्य जयसिंहनन्दि, वरांग चरित्र, सर्ग-२८ श्लोक-१९)



(जीव को) तत्कार मरण भासित हो तथापि मरण को नहीं गिनता हुआ विषयों का ग्रहण करता है इससे मरण होने से भी इन्द्रियों के विषयों की पीड़ा अधिक भासित होती है। इन इन्द्रियों की पीड़ा से पीड़ित बनकर निर्विचार होकर, जैसे कोई दुःखी मनुष्य पर्वत से गिर पड़े वैसे विषयों में झंपा पाप करता है। (५९३) (श्री टोडरमल्लजी, मोक्षमार्ग प्रकाशक अधि.-३, पृष्ठ ५१)



जिस प्रकार तरंगों से उछलते हुये भीषण समुद्र के बीच से अथक प्रयत्न पूर्वक तैरता कोई पुरुष किनारे तक आया और कोई शत्रु उसे धक्का देकर फिर से समुद्र में धकेले; वैसे हे माता-पिता ! दुर्गति के दुःखों से भरे इस घोर संसार समुद्र में अनादि से डूबा हुआ मैं वैराग्य द्वारा अब धीरे-धीरे किनारे पर आया हूँ तो फिर से आप मुझे इस संसार समुद्र में न धकेलो, घर में रहने को न कहो। (६०७) (आचार्य जटसिंहनन्दि वरांग चरित्र, श्लोक-१८)



हे पिताजी ! हे माताजी ! जब भवन में आग लग जाय तब समझदार मनुष्य बाहर भागने का प्रयत्न करता है परन्तु शत्रु होता है वह उसे पकड़कर फिर आग में फेंकता है। वैसे ही मोह की ज्वाला से झुलसता यह संसार है, इस संसार दुःख की अग्नि ज्वाला से मैं बाहर निकलना चाहता हूँ तब आप कोई शत्रु की तरह मुझे फिर से अग्नि ज्वाला में न फेंको। (६१८)

(आचार्य श्री जटसिंहनन्दि, वरांग चरित्र, सर्ग-२९, श्लोक-१७)



इस शरीर के रोग सड़न-पड़न-जरा तथा मरणरूप स्वभाव को देख करके जो भव्यजीव आत्मा को ध्याता है, तो (औदकादि) पाँच प्रकार के शरीरों से मुक्त हो जाता है। (६३८)

(श्री देवसेनाचार्य, तत्त्वसार, गाथा-४९)



हे योगी ! पृथ्वी पर भ्रमण करते यदि माणिक मिल जाय, तो वह अपने कपड़े में बाँध लो, और एकान्त में बैठकर देखो। (संसार भ्रमण में सम्यक्त्व रत्न पाकर के एकान्त में फिर-फिर से उसकी स्वानुभूति करो। लोक का संग न करो।) (६४५) (मुनिवर रामसिंह, पाहुड़ दोहा, गाथा-२१६)



इस देहमें जगह-जगह रक्त के कुंड और बालों के झुण्ड हैं यह हड्डियों से भरे हुये हैं, मानो चुड़ैलों का निवासस्थान ही हैं। जरा सा धक्का लगने से ऐसे फट जाते हैं जैसे कागज की पुड़िया अथवा कपड़े की पुरानी चादर हों, यह अपने अस्थिर स्वभाव को प्रगट करते हैं, पर मूर्ख लोग इससे स्नेह लगाते हैं। यह सुख के घातक और बुराईयों की खान हैं। इस ही के प्रेम और संग से हमारी बुद्धि कोल्हू के बैल के समान संसार में चक्कर लगाने वाली हो गई है। (७४४)

(बनारसी दासजी, नाटक समयसार, बंधद्वार, पद-४९)



हे जीव ! कुटुम्बी आदिजनों का तुमसे कुछ सम्बन्ध नहीं है और न तुम्हारा उनसे कुछ इस लोक सम्बन्धी प्रयोजन है, ये तो अपने मतलब के वास्ते तुम्हारे शरीर से मुहब्बत लगाते हैं और तुम अपने आत्महित में मस्त होओ। वे लोग शरीर में तन्मय हो रहे हैं, इसलिए शरीर ही के समान जड़बुद्धि है, और तुम चैतन्य हो, उनसे अलग हो, इसलिए राग-द्वेष का धागा तोड़कर अपना आत्मबल प्रगट करो और सुखी होओ।

(७५५) (श्री बनारसीदासजी प.९)



हे दुर्बुद्धि प्राणी ! यदि यहाँ जिस किसी भी प्रकार से तुझे मनुष्य जन्म प्राप्त हो गया है तो फिर प्रसंग पाकर अपना कार्य (आत्महित) करले। अन्यथा यदि तू मरकर किसी तिर्यच पर्याय को प्राप्त हुआ तो फिर तुझे समझाने के लिए कौन समर्थ होगा ? अर्थात् कोई नहीं समर्थ हो सकेगा। (८०७) (श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंच विंशति, धर्मोपदेशामृत, श्लोक-१६८)



सम्पत्ति, पुत्र और स्त्री आदि पदार्थ ऊँचे पर्वत की शिखर पर स्थित व वायु से चलायमान दीपक के समान शीघ्र ही नाश को प्राप्त होने वाले हैं। फिर भी जो मनुष्य उनके विषय में स्थिरता का अभिमान करता है वह मानों मुट्टी से आकाश को नष्ट करता है, अथवा व्याकुल होकर सूखी (जल से रहित) नदी को तैरता है, अथवा प्यास से पिड़ित होकर प्रमादयुक्त होता हुआ बालू को पीता है।

(८३२) (श्री पद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दि पंचविंशति, १०-४३)



इस मनुष्य के शरीर में एक-एक अंगुल में छियानवे-छियानवे रोग होते हैं, तब कहो अवशेष समस्त शरीर में कितने रोग कहें, यह समझो। (पूरे शरीर में पाँच करोड़, अड़सठ लाख, निन्यानवे हजार, पाँच सौ चौरासी रोग कहे हैं।)

(८५४) (श्री कुंद-कुंदाचार्य, भावपाहुड़, गाथा-३७)



भाई ! तेरी यह सारी प्रवृत्ति मुझे तो रेत में तेल शोधने जैसी, अथवा विष पानकर (खाकर) जीवन बुद्धि करने की इच्छा जैसी विचित्र और उन्मत्त लगती है। भाई ! आशारूप ग्रह (भूत) का निग्रह करने में ही सुख है। तृष्णा से किसी काल तथा किसी क्षेत्र में सुख नहीं है। यह छोटा परन्तु महत् सूत्र क्या तुझे समझ में नहीं आता ? कि यह व्यर्थ परिश्रम (प्रवृत्ति) तू कर रहा है।

(८६२) (श्री गुणभद्राचार्य, आत्मानुशासन, गाथा-४२)



धर्मका सत्यार्थ मार्ग दिखलाने वाले स्वाधीन सुगुरु का सुयोग मिलने पर भी जो निर्मल धर्मका स्वरूप नहीं सुनते वे पुरुष ठीक और दुष्ट चित्त वाले हैं तथा संसार परिभ्रमण के भय से रहित सुभट हैं। (८७३)

(आचार्य श्री धर्मदास, उपदेश सिद्धान्त रत्नमाला, गा.-९३, पं. टोडरमल्लजी, मोक्षमार्ग प्रकाश पृ.-२४)



हे भाई ! तेरी नजर के सामने क्या तू नहीं देखता कि यह जगत कालरूप प्रचंड पवन से निर्मूल हो रहा है। भ्रान्तिको छोड़, जगत में किसी की नाममात्र की भी स्थिरता नहीं। जिस दिन का मंगलमय प्रभात दिखता है वही दिन अस्तपने को प्राप्त होता है। भाई ! इस जगत का स्वभाव ही क्षणभंगुर है पहाड़ जैसा विस्तीर्ण दिखते हुए रूप का क्षण पश्चात् अवशेष भी दिखता नहीं। कौन जाने किस कारण से तू इस इन्द्रजालवत् जगत के इष्ट पदार्थों में आशा बाँध बाँधकर भ्रमता है।

(८८३) (गुणभद्राचार्य, आ.अ.-५२)



हे मूढ़जीव ! तू यहाँ परमाणु मात्र अल्प दुःखों के कारण भूत कर्मों को तू किसलिए करता है।

(९२२) (श्री योगीन्द्रदेव, परमात्म प्रकाश, अधि.-२, गाथा-१२०)



'स्वानुभूतिप्रकाश' (हिन्दी) का स्वामीत्वका विवरण फोर्म नं.४, नियम नं. ८

पत्रका नाम	: 'स्वानुभूतिप्रकाश' (हिन्दी)
प्रकाशन स्थल	: श्री सत्श्रुत प्रभावना ट्रस्ट, ५८० जूनी माणेकवाडी, भावनगर-३६४००१
प्रकाशन अवधि	: मासिक
मुद्रक	: भगवती ऑफसेट, १५/सी बंसीधर मिल कम्पाउन्ड, बारडोलपुरा, अहमदाबाद-३८०००४
प्रकाशकका नाम	: श्री सत्श्रुत प्रभावना ट्रस्ट, ५८० जूनी माणेकवाडी, भावनगर-३६४००१
संपादकका नाम	: हीरालाल जैन, (भारतीय), ५८० जूनी माणेकवाडी, भावनगर-३६४००१
स्वामित्व	: श्री सत्श्रुत प्रभावना ट्रस्ट, ५८० जूनी माणेकवाडी, भावनगर-३६४००१ मैं, हीरालाल जैन, एतद द्वारा घोषणा करता हूँ कि मेरी अधिकृत जानकारी और विश्वास अनुसार उपरोक्त विवरण सत्य है।

ता. ३१ मार्च, २०१२

हीरालाल जैन

मेनेजिंग ट्रस्टी, श्री सत्श्रुत प्रभावना ट्रस्ट

चिंतन कणिका

अनुभव संजीवनीमें से चयन किये गये कुछएक प्रेरणास्पद वचनामृत

'ज्ञानमात्र' कहकर आचार्यदेवने जीवके शुद्ध स्वरूपको दर्शाया है। अतः खुदका अर्थात् शुद्ध जीवका अनुभव 'ज्ञानमात्र'-रूप होना चाहिये कि जो अनुभव होते ही 'मैं मनुष्य', 'मैं सुखी-दुःखी', 'मैं रागी' इत्यादि कर्मानुसारी विभाव पर्यायमें आत्मबुद्धिरूप मिथ्यात्व-अंधकारका नाश होता है। जीवका मूल स्वरूप अनन्त आश्चर्यकारी महान गुणोंसे गंभीर, निर्विकल्प है। स्वानुभवमें वैसा प्रत्यक्ष आस्वाद है जो कि सर्व अन्य अध्यासको अथवा भ्रमको तोड़ देता है। भ्रम अनादिसे होनेके बावजूद भी क्षणमात्रमें छूट जाता है। इसका नाम अनुभव है। जहाँ आत्मशांति है। अभेद स्वरूप सम्बन्धी भेद विकल्प भी अशांतिका उत्पादक है। उसमें शांतिका प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। अतः वैसे विकल्प प्रयोजनके लिए, विरुद्ध हेतुवाले होनेसे निषेध्य है। निर्विकल्प स्वरूपमें विकल्पसे भिन्न होकर समाये रहना। सर्व विकल्पोंकी निरर्थकता जानना, जिससे कि उसके पर जोर न जाय, उसका रस नहीं आये। (७१४)



अनन्त संसारका क्षय करनेवाला और अनन्त समाधि-सुखकी प्राप्ति करानेवाला, श्री तीर्थकरदेवसे प्रवाहित ऐसे सदोपदेशकी प्राप्ति हुई, समझ हुई तो अब उसको जीवनमें उतारनेका प्रयत्न करना चाहिये। यदि जीवनमें उतारनेका प्रयास नहीं हुआ तो उसका मूल्यांकन तो नहीं हुआ परन्तु उपेक्षा हुई, इससे परमोत्कृष्ट देशनाका अनादर हुआ, उपेक्षा हुई। मोहके कारण ऐसा अपराध होनेसे उस उपदेशकी धारणा अल्प कालमें नष्ट हो जायेगी। अतः परम गंभीरतापूर्वक जिसे उपदेशका योग हुआ है उसको तो अपूर्वभावसे अपूर्व पुरुषार्थ कर्तव्य है। बारबार ऐसी तक हाथ नहीं लगती। मोहके वश जीव प्रयत्न करना भूल जाता है। परन्तु यह प्रमाद (प्रयत्न चालू न होना) जीवके अविचारीपनेकी प्रसिद्धि है। अतः हे भव्य ! जागृत हो, जागृत हो ! (७१५)

जिसको परम उत्कृष्ट ऐसे जिनदेवका केवल अंतर्मुखताका मार्ग श्रवण-प्राप्त भी नहीं हुआ है, वैसा हीनपुण्य जीव संसारके भयंकर दुःखोंसे मुक्त न हो सके, यह तो सहज है, परन्तु जिस जीवको परम सत्य लक्षमें आया है, वह क्षुद्र उदय प्रसंगों और साधारण विकल्पोंमें स्वयंके महान स्वरूपको रोक रखता है, वह प्रमादमें रति है। प्रमादमें रति करने जैसा कुछ है ही नहीं। अतः हे जीव ! त्वरासे स्वयंके महान पदको सँभालकर अंतर्मुख हो ! अंतर्मुख हो !

क्षुद्र विकल्पोंको सिद्ध करनेमें लगे रहना, यह आत्माको आवरणकर्ता है, अविवेक है।

संसारके प्रति तीव्र उदासीनतासे और सत्समागमसे प्राप्त विशुद्ध (निर्मल) मतिसे कुछ एक जीवको केवल अंतर्मुख होनेका, वह मार्ग समझमें आता है, जो कि सर्व दुःखक्षयका उपाय है। जिसको समझमें आता है, वह निष्प्रमादरूपसे उसका अहर्निश आराधन करता है। (११०५)



वर्तमानमें सामान्य मुमुक्षुका इतना ध्यान जरूर जाता है कि यह मार्ग वाकई सत्य है और इसे प्राप्त करनेसे जीवका कल्याण (भी) हो जाये, परन्तु दूसरी तरफ मोहके बलवानपनेके कारण, मोहको

टालनेमें हिम्मत नहीं चलती है। अतः संयोग ऊपरकी सावधानी छोड़नेमें - उपेक्षा करनेमें भय लगता है। जिसके कारण उदय प्रवृत्तिमें जीवन चला जाता है, और वह आवरणकर्ता बन जाता है। और मिला हुआ अपूर्व योग अफल जाता है, मौका हाथसे निकल जाता है। देहादिमें जो आत्मबुद्धि है, वही भवांतरमें देहादि बंधन प्राप्ति का कारण है। वर्तमानमें भी व्यामोह छोड़ते हुए यदि जीवको दुःखी होना पड़ता है, तो परभवमें कितना दुःखी होना पड़ेगा ? उस वक्त दुःखकी वेदना कितनी अकथ्य होगी !! इसका गंभीरतासे विचार करके वीर्य उछालना चाहिए। उल्लासित वीर्यसे आत्महितका प्रारम्भ होना चाहिए। (११४३)



वर्तमानमें चल रहे एक समयमें मैं परिपूर्ण अखण्ड ध्रुव चैतन्य हूँ - ऐसे स्वरूपानुभव द्वारा ज्ञान-वेदनका उदय - आविर्भाव है। कि जो ज्ञानवेदन रागसे भेद करता हुआ निःशंकित व निराकुल सुख सहित प्रत्यक्ष प्रमाणरूप प्रगट हो रहा है और क्रमशः वृद्धिगत होता हुआ पूर्ण हो जायेगा। इस आत्माको जगतमें किसीसे कोई लाभ-नुकसान नहीं है - यह न्याय अगर बाहर जानेवाली वृत्ति पर तीरकी माफ़िक असर करे, तथारूप जागृति रहे, तो परसन्मुखता छूट जाये। इस आत्मासे शून्य ऐसा जगत पूर्णरूपेण उपेक्षा करने योग्य है। उसके प्रति जानेवाली वृत्ति स्वानुभूतिमें विघ्न करनेवाली है, स्वरूप-शांतिका काल (घातक) है - ऐसा जानकर हे जीव ! स्वरूपस्थ हो !! (११५२)



हे जीव ! त्रिलोकनाथ जैन परमेश्वरकी प्रदत्त निधि हाथ लगी है, जिससे शाश्वत कल्याणका उपाय सहजमात्रमें प्राप्त होकर, अभी (वर्तमानमें ही) परमशांतिका अनुभव हो सकता है, तो फिर किस कारणसे इसकी उपेक्षा हो सकती है ? उपेक्षा करने योग्य है क्या ? सर्व उद्यमसे जिनाज्ञाकी उपासना कर्तव्य है। स्वयंप्रभु आनंदघन है, निर्विकल्प आनंदघन हूँ। सहज बेहद प्रत्यक्ष, अत्यंत प्रत्यक्ष हूँ - वैसा मैं स्वसंवेदन गोचर हूँ। अगाध अमृत सागरमें निमग्न हूँ। केवल अंतःतत्त्व होनेसे संपूर्ण अंतर्मुख हूँ। परिपूर्ण होनेसे सर्वथा निरालंब निरपेक्ष हूँ। (११५६)



कल्याणयात्रा करनेवाला कभी प्रतिकूलताओंके सामने नहीं देखता, या लोगोंकी टीका-टिप्पणीका विचार नहीं करता। प्रतिकूलतामें आत्मवीर्यका उछलना यह सहज स्वभाव है। बादलोंको देखकर सूर्य वापस नहीं चला जाता। दृढ़ निश्चयवालेको निष्फलताका विकल्प (भी) नहीं आता। नदीका पानी, बीचमें पड़े हुए पत्थरोंकी छाती चिरते हुए आगे बढ़ता है, वापिस नहीं चला जाता। (११७९)



वैराग्य समाचार

भावनगर निवासी श्री महेन्द्रकुमारजी जैन का दि.२०-२-२०१२ के दिन देहपरिवर्तन हुआ है। उनको देवगुरुशास्त्र एवं तत्त्व के प्रति रुचि थी। वे देवगुरुशास्त्र के आश्रय से निजआत्महित साधे ऐसी भावनासहित स्वानुभूतिप्रकाश परिवार उनके कुटुंबीजनो के प्रति सांत्वना प्रेषित करता है।



**श्री परमागमसार वचनामृत ४५९ पर पूज्य
भाईश्री शशीभाई का प्रवचन, प्रवचन नं.२५६
(दि.१६-१-८४, भावनगर)**

गाँव माने दस मिल। दस मिल बिना रूके चले तो थोड़ा विश्राम (लेते हैं)। एक साथ जो चलना होता है। शरीर के अवयवों की ऐसी स्थिति होती है कि, मानसिक स्थिति भी होती है कि थोड़ी देर विश्राम कर ले, थकान दूर करे।

'यहाँ तो अनन्त-अनन्त भव किये...' कितना चला ? कहते हैं। अनन्त जन्म-मरण किये बिना रूके। कभी मोक्ष को प्राप्त किया ऐसा नहीं बना। जन्ममरण मिटे हो ऐसा नहीं बना। अनन्तकाल से यह जीव जन्म-मरण करता आया है। **'तो भी थकान नहीं लगी'** फिर भी इस जन्म-मरण से छूटने को अंतर से थकान जो लगनी चाहिये, इस जन्म-मरण से मुक्त होना चाहिये, ऐसी जो मुक्ति व मोक्ष की भावना, ऐसी भावना जीव को कभी उत्पन्न नहीं हुई।

वर्तमान १००-५० वर्ष की आयु है। आँख झपकते ही पूरा हो जाता है। क्योंकि उसका कोई निश्चितकाल नहीं है कि, बचपन में या युवानवय में मृत्यु नहीं होती। आयु पूर्ण कब हो इसका कोई नियम नहीं है। नियमबद्धता नहीं है कि सौ साल तो पूरे होंगे या अस्सी साल तो होंगे ही या साँठ होने चाहिये और जितने होनेवाले हैं वे उदय की विध-विधताओं में एक के बाद एक, एक के बाद एक दिन इतने तेजी से जाते हैं, कि जीव को लगता है कि बस! अब इतना ही.. इतने ही साल, इतने तो हो चूके और ज्यादा से ज्यादा कितने ? कहते हैं कि, इतने ? अब अगर इतने चले गये उसका पता नहीं चला तो शेष बचे उसे जाने में क्या पता चलेगा ? क्योंकि उदय

में तन्मय है। जो भी वर्तमान प्राप्त संयोग है, इस संयोगों के आश्रित जो परिणाम हैं, इसमें जो रस है इसमें समय व्यतीत हो जाता है इसका पता ही नहीं चलता। इसमें जन्म-मरण से छूटने का जो उपाय करना है वह मूल बात ही अंदर में उत्पन्न होनी रह जाती है। इस विषय में ध्यान खींचा है।

विलक्षण पद्धति है। उपलक्षण से दिखाते हैं, कि भाई! तेरा मूल्यवान समय निकला जा रहा है। मनुष्यत्व की एक-एक क्षण, अमूल्य है, यदि आत्महितार्थ इसका इस्तेमाल हो तो। वरना आत्महित किये बिना-मनुष्यजीवन पूरा हो जाये तो इसकी कीमत एक फूटी कोड़ी जितनी भी नहीं रहती। इसतरह एक-एक क्षण को रत्नचिंतामणी तूल्य कही है वरना सारी जिंदगी की कीमत कोड़ी जितनी भी नहीं है।

अगर खुद अपने हित के विषय में सोच न सका और अपने हित के प्रति झुकाव न हुआ, तो अबतक जो अनन्त भवभ्रमण किया, अनन्त भव बीते फिर भी थकान नहीं लगी, इसी स्थिति में अभी और कितना काल जायेगा, कितना दुःख भोगना पड़ेगा इसका कोई मेल नहीं है, हिसाब नहीं लगा सकते। क्योंकि आश्चर्यजनक है कि पाँच गाँव चले तो भी तुझे थकान लगती है। थोड़ा भी मेहनतयुक्त मजदूरी जैसा, शारीरिक परिश्रमयुक्त या मानसिक Tension-परिश्रमयुक्त काम करने पर भी तुझे थकान आती है और लगता है कि अब थोड़ा विश्राम करूँ, थोड़ा आराम करूँ, यह भवभ्रमण यूँ ही चल रहा है, इसमें तुझे थकान नहीं लगती ? अंतर विचार में प्रेरणास्वरूप यह एक प्रश्न है। जीव को खुदको अंतर विचार में इस पद्धति से,

इस शैली से वचन प्रेरणारूप होते हैं। ज्ञानियों के वचन में जो विधि है, जो प्रकार है, जो रीत है, इसकी मुख्य कोई Line है तो वह जीव को स्वलक्षपूर्वक अंतर में खींच ले जाये, ऐसी शैली और ऐसे वचन ऐसी अंदरूनी रचनावाले होते हैं।

‘यहाँ तो अनन्त-अनन्त भव किये तो भी थकान नहीं लगी !’ क्या है यह ? क्यों थकान नहीं लगी ? अनन्त भव किये तो भी थकान क्यों न लगी ? यह कैसी विचित्रता ! थोड़े से परिश्रम में थकान लगती है, तो ये अनन्त भव करने पर भी थकान नहीं लगी, क्या है यह ? खुद के लिये प्रश्नचिह्न खड़ा हो ऐसा है कि, यह क्या ?

‘सर्वज्ञदेव कहते हैं...’ वीतराग जिनेन्द्रदेव फरमाते हैं **‘कि तू स्वभाव में विश्राम ले’** अब तू जो ये बाहरी उपाधि के परिणाम करता है, और जिसके फल में जन्म-मरण की परंपरा चालू रहती है वे परिणाम तो आकुलतायुक्त और दुःखदायक है। दुःख का अनुभव तुझे होता है। वहाँ से छूटकर अब तू जो विश्राम का स्थान है ऐसा तेरा स्वभाव, तेरा स्वरूप, तुझे और कहीं नहीं जाना है, न तो मंदिर में जाना है न किसी यात्रा के स्थल पर जाना है। और कहीं नहीं जाना है परन्तु ‘सोनगढ़’ तो जाना कि नहीं जाना ? कि तेरा स्वरूप में जाना है (इतनी बात है।)

जिनेन्द्र भगवान कोई ऐसा भी नहीं कहते हैं कि तू मेरे पास आ। मेरे पास आयेगा तो मैं तुझे छुड़ा दूँगा। ऐसा नहीं। मेरे पास आयेगा तो मैं तुझे ऐसा कहूँगा कि तेरे स्वभाव में विश्राम कर। ऐसी बात है। **‘सर्वज्ञदेव कहते हैं कि तू स्वभाव में विश्राम ले - तेरी थकान उतर जाएगी।’**

‘अनन्तकाल के जन्म-मरण की जो तेरी थकान है, अनन्तकाल से आकुलित परिणाम करता आया है, अनंतानुबंधी की आकुलता है। भले ही कषाय की मंदता की शांति चाहे कितनी भी दिखती क्यों न हो, फिर भी जब तक स्वभाव का आश्रय नहीं

किया है, स्वभाव में विश्राम नहीं लिया है, तब तक वे सारे परिणाम, सर्व परिणाम अनन्तानुबंधी के आकुलतायुक्त परिणाम है। अनन्तानुबंधी का कषाय है न ? इसकी आकुलता है जीव को।

‘तेरी थकान उतर जाएगी...’ कोई ऐसा कहे कि हमें तो इतनी ऐसी अनुकूलता है कि खास कोई उपाधि नहीं है। छोटी-मोटी बात होती रहती है, उसे गौण रखें तो ऐसी कोई खास उपाधि नहीं है। बहुत सुखचैनपूर्ण और शांति से हमारा जीवन बीत रहा है व्यतीत कर रहे हैं। कहते हैं कि, भाई! वहाँ भी तुने वर्तमान संयोगों का आश्रय कर लिया, यह तुझे महंगा पड़ेगा, बहुत दुःखदायी हो पड़ेगा। क्योंकि वहाँ तुझे इतना रस आ रहा है कि वर्तमान में प्रवर्तमान आकुलता तेरे ज्ञान में पकड़में नहीं आती है। आकुलता तो हो ही रही है लेकिन उसके ज्ञान में जानने में नहीं आती। तेरे ऐसे परिणाम यह सूचित करते हैं कि, नजदीकी भविष्य में तू अपने स्वरूप का आश्रय करेगा ऐसे कोई चिन्ह नहीं दिखते या संयोग आश्रित जो वृत्ति है उस वृत्ति में कोई बदलाव आने का कोई चिह्न नहीं दिखता। ऐसा इसका अर्थ होता है। तो भले ही तुझे सुखचैन है तो भले ही रहा। तू उसका भोग कर। अतः ऐसा सुखचैन का तू अनुभव कर तो इसमें हमे थोड़ी कोई आपत्ति है ? अन्यथा रूप से भी तू चाहे दुःखी हो या सुखी हो इससे दूसरे को कोई लेना-देना नहीं है। परन्तु क्या है कि जीव भ्रमणा से दुःख में सुख मान लेता है और तीव्र दुःख में फँस जाता है, ऐसा तेरा सुखचैन क्षणमात्र में फिर से इतनी आकुलतायुक्त परिणाम में पलट जायेंगे कि तुझे समझ में नहीं आयेंगे, सहन नहीं होगा तेरे से, तो भी छूट नहीं सकेगा। ऐसी स्थिति में आने में तुझे देर नहीं लगेगी।

मुमुक्षु :- वास्तव में सुखचैन है ही नहीं वहाँ।
पूज्य भाईश्री :- है ही नहीं। परन्तु जीव को

क्षणभर सुख लगता हो, शांता लगती हो, तब भ्रमणा में दुःख बढ़ने का मूल अधिक मजबूत हो जाता है। ऐसी साता के सुख में भविष्य के असह्य दुःखों की जड़े अधिक से अधिक मजबूत होती जा रही है। उसमें से दुःख पनपेगा ऐसा है। इसलिये भगवान कहते हैं 'कि तू स्वभाव में विश्राम ले तेरी थकान उतर जायेगी।' तेरे स्वरूप में जम जा। अनन्त शांति का जो धाम है, उसमें शांत होकर जम जा। अनन्तकाल की तेरी थकान वहाँ उतर जाएगी। फिर कोई भी मानसिक थकान या संयोगिक प्रतिकूलता की थकान की परिस्थिति तुझे नहीं रहेगी।

मुमुक्षु :- तब तक अनन्तकाल की थकान उतरेगी नहीं।

पूज्य भाईश्री :- जब तक मोक्षमार्ग में प्रवेश नहीं करेगा, यानी कि सम्यक्दर्शन प्रगट करके प्रथम शुद्धोपयोग में, स्वभाव में स्थिर नहीं होगा, अनुभव के काल में स्वभाव में स्थिरता होती है भले ही क्षणमात्र की स्थिरता हो परन्तु वह क्षण बहुत बड़ी है। बड़ी है मतलब महान है उच्च कोटी की है। वह एक क्षण अनन्त भवभ्रमण को नष्ट करती है, ऐसी है वह एक क्षण। कहते हैं कि तेरी अनन्तकाल की थकान उतर जाएगी।

'शुद्ध चैतन्य भगवान के आश्रय से शुद्ध परिणति करना-यह अपूर्व है।' अनन्तकाल में कभी नहीं किया है ऐसा कार्य, निज शुद्ध चैतन्य, भगवानस्वरूप आत्मा है, इसके आश्रय से शुद्ध परिणति करना, शुद्ध सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और आनंद की परिणति प्रगट करना 'यह अपूर्व है' कभी भी जीव ने वह नहीं किया। सारा अशुभ और सारा शुभ चारों तरफ जो भी जगत में दिखता है वह सब कर चूका है और उसके फल भी जीव भोग चूका है। इतना ही नहीं जबतक जीव अपने स्वआश्रय भाव में नहीं आयेगा तब तक जीव के ऐसे पंच परावर्तनरूप परिणाम चलते ही रहते

हैं। इसमें कोई नई बात नहीं है, अपूर्व नहीं है। इसलिये सम्यक्दर्शन करना ही अपूर्व है ऐसा कहते हैं। मोक्षमार्ग प्रगट करना वह अपूर्व है। स्वानुभव करना अपूर्व है।

'ऐसी सम्यक् परिणति करे तो शाश्वत सुख को प्राप्त हो...' ऐसे स्वयं के अंतर्मुख शुद्ध चैतन्य के आश्रयरूप परिणाम करे तो वह सम्यक् परिणति है, वह स्वाभिमुख परिणति है। अंतर्मुख परिणति से वह सादि अनन्त काल पर्यंत परमानंद के सुख को प्राप्त हो ऐसी दशा में जीव आता है। 'सादि अनन्त अनन्त समाधि सुख मां, अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान सहित जो वह स्थिति आयेगी। पूरी शुरुआत दूसरे प्रकार से होती है इसीलिये इसे अपूर्व-अपूर्व परिणाम कहते हैं। सम्यक्दर्शन होना तो अपूर्व ही है लेकिन तत्पश्चात् मोक्षमार्ग में जीव आगे बढ़नेवाले सारे परिणाम जीव को अपूर्व-अपूर्व है - कभी पूर्व में नहीं किये।

'ऐसी सम्यक् परिणति करे तो शाश्वत सुख को प्राप्त हो, अनन्त अनन्त गुणों की पूर्ण पर्यायें प्रकटता को प्राप्त हो...' क्या कहते हैं ? कि ये जो कुछ तुझे कहते हैं उसका मूल्यांकन तुझे होता है ? इसकी कीमत आती है तुझे ? स्वाध्याय का हेतु तो इतना ही है कि हम जीव को सुख चाहिये और दुःख नहीं चाहिये। अतः यह सुख-दुःख का जो विषय है यह इसमें मुख्य है। सुख प्राप्ति का कारण और दुःख मिटने का कारण इस कारण की तुझे कोई कीमत आती है ? फिर तो तू इसे अंगीकार कर। अगर भारे कर्मपने की वजह से भारे कर्मजीव होते हैं न ? नहीं कहते हैं कि भारे कर्म जीव है। भारे कर्म का अर्थ ऐसा होता है कि अभी पाप करता है। अभी बहुत पाप की प्रवृत्ति में पड़ा है ऐसा अर्थ नहीं है वहाँ, परन्तु उसे सन्मार्ग दिखानेवाले मिले, सन्मार्ग की प्राप्ति हो ऐसी सानुकूल स्थिति बाहर में (प्राप्त हुई), (इसमें) परिणाम वृद्धिगत होकर, रुचिपूर्वक उस

विषय को, मार्ग को अंगीकार नहीं करते हैं, या जैसे इसकी जितनी कीमत आनी चाहिये उसकी कीमत ज्ञान में व समझ में इसकी कीमत जिसको नहीं आती उसे भारे कर्मपना है ऐसा कहा जाता है। हलुकर्मी और भारेकर्मि ऐसे होते हैं न ?

'श्रीमद्जी' ने व्याख्यानसार में एक दृष्टांत लिया है, कि जो हलुकर्मीजीव है वह धोती जैसा पतला वस्त्र ओढ़कर सोया हैं, अज्ञान में सोया है। अज्ञान की निद्रा में परन्तु कैसा ? धोती जैसा पतला जिर्ण वस्त्र ओढ़कर सोया है। अतः श्रीगुरु की उपदेशरूप लकड़ी उसे तुरंत लगती है। जब कि भारे कर्मिजीव मोटी रजाई ओढ़कर सोया है, उसे श्रीगुरु की उपदेशरूप लकड़ी नहीं लगती। लकड़ी तो लकड़ी ही है, दोनों को एक-सी ही मार मारते हैं। परन्तु जिसने पतला ओढ़ रखा है वह जागृत हो जाता है जबकि दूसरा जागृत नहीं होता। यह परिस्थिति है।

यह मोटी चदर क्या है ? कि, जीव का संयोग प्रत्ययी तीव्र रस है, यह सब मेरा, यह सब मेरा है उसे ठीक से रखूँ। ये मेरा जो भी है उन सबको इतना बढ़िया तरीके से बढाऊँ और ठीक-ठाक रखूँ, इतना ठीक रखूँ, संभालना और वृद्धिगत करना ऐसा जो संयोगिक रस है वह असंयोगी तत्त्व के उपदेश से विरुद्ध होने से असंयोगी तत्त्व की बात उनको स्पर्श नहीं करती, उसको असर ही नहीं आता, ऐसी दशा हो जाती है। और इसमें जीव को सुख लगता है वह भ्रांतिगत सुख है वह सच लगता है। भ्रांतिगतपने के कारण दुःख होने पर भी जो सच्चा सुख भासित होता है, यह स्थिति जीव को समझ के काल में सुख आत्मा में है और सच्चा सुख, आत्मिक सुख कैसा होता है उसका निश्चय नहीं होने देता।

कल एक भाईने प्रश्न किया था। स्वाध्याय के बाद बैठे थे। कहा कि एक म्यान में दो तलवार रह सके ऐसी म्यान बनाकर दोनों तलवार साथ

में रखे तो ? यानी कि संसार का सुख और मोक्ष का सुख दोनों साथ-साथ रहे पाये ऐसी म्यान हम बनाये तो। वैसे तो एक म्यान में दो तलवार नहीं समाती परन्तु नई एक म्यान बनवाये कि जिसमें दो तलवार साथ में रखी जाये तो क्या हरजा है ? ठीक। कहते हैं कि भाई ! दुःख और सुख साथ-साथ कैसे रहेंगे ?

जिसे तू संसारमार्ग के परिणाम कहते हो, वह तो दुःखमय परिणाम है। बंधरूप परिणाम है। सुखमय मुक्ति के जो परिणाम हैं इससे विरुद्ध है। दोनों साथ-साथ कैसे रहेंगे ? दशा एक ही है तो वह दशा मुक्ति की भी हो और बंध की भी हो ऐसा कैसे संभव है ? यह अंगूली या तो सीधी रहेगी या टेढ़ी रहेगी, परन्तु सीधी और टेढ़ी - दोनों एक साथ रखनी हो तो ? परन्तु एक ही ऊंगली की दशा है या तो ऐसे रहेगी या ऐसे रहेगी। एक ही चीज की दो विरुद्ध दशा एकसाथ कैसे बने ? दो अलग-अलग कैसे हो ? यह अशक्य व असंभवित है।

अतः जिसको अभी संयोगमें से सुख लेना है और संयोगिक सुख लेने की भावना को छोड़नी नहीं है। स्वेच्छापूर्वक, इच्छापूर्वक जिसको उस दिशा में जाना है, अभिप्रायपूर्वक उस दिशा में जाना है उसे मुक्त होने की आशा छोड़ देनी होगी। उसके लिये मुक्त होने का जो तत्त्व है उसकी रुचि होना नामुमकिन है। उसे इसकी अरुचि रहेगी। और जिस विषय में अरुचि हो उसमें विकास होने का प्रश्न नहीं उठता। क्या कहते हैं ?

प्रश्न यों चला था कि, ऐसी बात है, ऐसे सुख की बात है। यह बात निराकुल सुख की है और वे सब दुःख की बातें हैं। फिर जीव सुनते हुए भी पीछे क्यों नहीं हटता ? सुनता है, बुद्धि में सम्मत करता है कि नहीं नहीं बात तो न्याय से, Logic से, युक्ति से, आगम से, दृष्टांत से - सब पहलू से बिलकुल स्पष्ट है इसमें कोई संदेह

नहीं है। फिर भी जीव पीछे क्यों नहीं हटता ? क्योंकि जीव को विश्वास नहीं आता है।

यह तो कल स्वाध्याय में आया था। जीव को साथ ही साथ प्रतीति आनी चाहिये। सिर्फ जानने मात्र से उसका कार्य (नहीं हो जाता)। जानना भी सम्यक्प्रकार से जानना, जानना भी आत्महित के हेतुपूर्वक जानना, ऐसे लक्षपूर्वक जानना। इसतरह जानने-जानने में प्रकारांतर है। ऊपर-ऊपर से जानकर रुचि तो जो संयोग संबन्धित व पुण्य-पाप की उसे ही पुष्ट करता रहे, परिणाम में उसीकी पुष्टि होती रहे, फिर तो यह जानकारी का हेतु अन्यथा हो जायेगा। जो जानकारी आत्महित के हेतुपूर्वक करनी चाहिये वह हेतु सार्थक नहीं रहेगा क्योंकि जानने के पश्चात् या तो जीव उसे अंगीकार करने का प्रयत्न करता है या उसे नहीं अंगीकार करनेरूप अन्य कोई प्रयत्न में लग जाता है। दोमें से एक तो बनता ही है।

प्रत्येक पदार्थ में जो भी पदार्थ जानने मिलता है वह यदि अंगीकार करने योग्य लगता है तो जीव उस दिशा के प्रयत्नरूप पुरुषार्थ में लग जाता है और जो पदार्थ जानने के पश्चात् निकम्मा लगता है उसके पीछे जीव का पुरुषार्थ कार्यान्वित नहीं होता। उस दिशा में वह प्रयत्नशील नहीं होता।

अब यह तत्त्व तुझे जानने मिला, और जानने के पश्चात् उस दिशा के पुरुषार्थ में अगर तू नहीं लगा तो यह सूचित करता है कि जानने के पश्चात् तुझे यह बात प्रयोजनभूत नहीं लगी परन्तु निकम्मी लगी है। यह साबित करने की जरूरत नहीं है। और इसमें कोई मिथ्या आश्वासन देने से फर्क नहीं पड़ता। जैसे नहीं नहीं! हमारी तो बहुत भावना है। पुरुषार्थ नहीं उठता यह बात सही है लेकिन हमारी तो बहुत भावना है। ऐसे खुद अपने आप को गलत आश्वासन देना, मिथ्या आश्वासन मतलब ढांकपछौड़ा करना। अपने विपर्यास को नजरअंदाज करने से कोई मार्गप्राप्ति तो नहीं हो जाती। क्या

कहते हैं ?

‘ऐसी सम्यक् परिणति करे तो शाश्वत सुख को प्राप्त हो, अनन्त अनन्त गुणोंकी पूर्ण पर्यायें प्रकटता को प्राप्त हो।’ वह शाश्वत सुख गुण प्रगट हो वैसा सुखगुण तो पूरा-पूरा प्रगट हो। परन्तु अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त पुरुषार्थ सर्व गुण जो हैं, अनन्त गुण सारे के सारे अपनी पूरी-पूरी शुद्ध अवस्था जो अरिहंत अवस्था में प्रगट होती है, शुद्ध अवस्था में प्रगट रहती है, ऐसी सर्व पर्याय की प्रगटता को वह प्राप्त होगी। तुझे जिसकी कीमत है वे सब तो पुण्य के फल हैं। परन्तु स्वतः ऐसी ही कोई रचना होती है, कि ऐसी पूर्णदशा को संप्राप्त जो अरिहंत हैं, केवली हैं, वे अरिहंत और केवलियों के समवसरण में, कोई केवली को वाणी का योग हो तो समवसरण की रचना होती है।

‘रामचंद्रजी’ के समय में उनको ऐसा हुआ था कि वनवास में थे तब एक मुनिराज को जंगल में उपसर्ग होता है और उस उपसर्ग को स्वयं दूर करते हैं। वही मुनिराज छद्मस्थ अवस्था में थे तब वहाँ उनका उपदेश सुनते हैं। चौदह वर्ष के वनवास के बाद अयोध्या में निवास करते हैं तब उस मुनिराज को केवलज्ञान होता है और उनका समवसरण अयोध्या के उपवन में आता है। और फिर से वहाँ केवलज्ञानी के रूप में उपदेश सुनने का उन्हें अवसर मिलता है।

मुमुक्षु :- सकलभूषण

पूज्य भाईश्री :- नाम तो याद नहीं रहा। पद्मपुराण में विषय है। अतः पुण्यवंत से पुण्यवंत जीव होते हैं वे आकर उन्हें वंदन करते हैं।

तुझे पुण्य की कीमत है न ? यहाँ तो ऐसा कहना है। परन्तु यहाँ तो १०० इन्द्र आकर उन्हें नमन करते हैं। जगत के सर्वोत्कृष्ट पुण्य के धारक जीव हैं, ऐसे सौ के सौ इन्द्र उन्हें नमन करते हैं। और इनके नमन करने के बावजूद भी जो

पूर्ण ज्ञान में स्थिर हैं, पूर्णदशा में स्थिर हैं वे इनके सामने तक नहीं देखते। 'भले सौ इन्द्रों के रतनमय स्वस्तिक बनते आता है न ? भगवान की स्तुति में। 'नथी ए ज्ञेयोमां तुज परिणति सन्मुख जरा' हे परमात्मा ! आपकी परिणति तो उनके सन्मुख जरा भी नहीं है। स्वयं अपने स्वरूपध्यान में लीन हैं। भले ही १०० इन्द्र झूकते हो। अब तू ही बता कि ऐसी दशा की कीमत है या जो इनके चरणों में रहता है इनकी कीमत है ? जिनकी चरणरज सिर पर चढ़ाते हैं इनकी कीमत ज्यादा कि तेरे पुण्य के संयोग की कीमत ज्यादा ? दो में से किसकी कीमत ज्यादा ? ऐसा कहते हैं। पुण्य की कीमत तो तुझे दुःख का कारण होगी। और कुछ नहीं होगा। इसकी कीमत करते तो... वही तो विषय लेना है। कि ऐसी जीव की पूर्ण पर्यायें प्रगटता को प्राप्त होगी, 'अतः बाहर के हर्ष-उत्साह के सबड़के (रसासक्ति) छोड़ दे...' कैसा घरेलू विषय लिया है।

यह दाल और दूधपाक का 'सबड़का' लेते है न ? अभी ये चम्मच इस्तेमाल करते हैं पहले एक जमाना था कि जब खाने में चम्मच का उपयोग नहीं था। तब 'सबड़का' लेते थे। हाथ में एक चम्मच जितना दाल का या दूधपाक का प्रवाही आ जाये। परन्तु इसमें फर्क है। साधन से, किसी चीज़, चम्मच से, छूरी-काँटे से आहार करे और यूँ हाथ से आहार करे उसमें बहुत फर्क है। (वैसे यह जीव) भाता है - तब हर्ष और उत्साह का सबड़का लेता है। 'गुरुदेवश्री' की घरेलू भाषा है। अनुभव में क्या होता है वह अनुभव की पद्धति से समझाते हैं।

घर में जब शुभ प्रसंग हो तब जीव को हर्ष होता है, पुण्य का उदय जानकर हर्ष करता है परन्तु कहते हैं कि तेरा यह जो रस आसक्तिपूर्वक बहता है वह तुझे बहुत दुःखदायक फलेगा। वह बहुत दुःख में एकाकार होकर वहाँ पुष्ट करते हैं, ऐसा समझना चाहिये। वैसे परिणाम आत्मा से दूर जाने के परिणाम हैं। स्वभाव का आश्रय करने

के बजाय बाह्य प्रसंग में रस व हर्ष करता है वह पराश्रय को अधिक जोर से पराश्रय करता है। पराश्रय में भी अधिक जोर से पराश्रय करता है। इसे तू छोड़ दे। ऐसा कर्तव्यरूप नहीं है। ऐसे तीव्र पररस के परिणाम में तो स्वरस की तनिक-सी जगह भी नहीं है। और स्वरसपूर्वक जो स्वभाव के प्रति जाना है वह बिलकुल नहीं हो सकता। ऐसे परिणाम आत्मा को अहितकर, बहुत अहितकर परिणाम हैं। बाहरी प्रसंगों में उत्साह आना, हर्ष करना ये बहुत अहित के परिणाम हैं, स्वयं के लिए बहुत अहितरूप परिणाम हैं, ऐसा कहते हैं। अतः आज्ञा करते हैं कि ऐसे परिणाम छोड़ दे। ऐसे परिणाम करने जैसे नहीं है।

'यह भ्रांति छोड़ दे और जिनवरदेव द्वारा उपदिष्ट शुद्ध सम्यक् परिणति कर...' बाहर में हर्ष और उत्साह आता है वह भ्रांतिगतरूप से भासित हुआ सुख है। वहाँ सुख की गंध भी नहीं है परन्तु तुझे भ्रांतिगतरूप से भासित हुआ सुख है। वहाँ सुख की गंध भी नहीं है परन्तु तुझे भ्रांति से भासित हुआ सुख है, उसे तू छोड़ दे। और 'जिनवरदेव द्वारा उपदिष्ट शुद्ध सम्यक् परिणति...' स्वाभिमुख। सम्यक् नाम स्वाभिमुख परिणति, श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र की परिणति करने का जो जिनेन्द्रदेव का, परमात्मा को उपदेश है वैसी 'परिणति कर, तो तू अवश्य शाश्वत सुख को प्राप्त होगा।' ऐसे शुद्धपरिणति के परिणाम कर तो इसके फल में शाश्वत सादि अनन्त-अनन्त समाधि सुख प्रगट होगा। अरिहंत दशा का सुख प्रगट होगा और वह शाश्वत काल रहेगा। फिर वह पूर्ण सुख में कमी नहीं आयेगी। पूर्णता में अपूर्णता अंशतः भी नहीं आयेगी और काल अपेक्षा से एक समय का भी उसमें फर्क नहीं आयेगा। सादिअनंतकाल पर्यंत ऐसी दशा में रहना हो जायेगा। अतः इसकी कीमत करके सही रास्ता पकड़ ले ऐसा कहते हैं। ४५९ (बोल) पूरा हुआ।

४१४

ॐ

बंबई, आसोज, १९४८

जो कुछ उपाधि की जाती है, वह कुछ 'अस्मिता' के कारण करनेमें नहीं आती, तथा नहीं की जाती। जिस कारणसे की जाती है, वह कारण अनुक्रमसे वेदन करने योग्य ऐसा प्रारब्ध कर्म हैं। जो कुछ उदयमें आता है उसका अविस्वादा परिणामसे वेदन करना, ऐसा जो ज्ञानी का बोधन है वह हममें निश्चल है, इसलिये उस प्रकार से वेदन करते हैं। तथापि इच्छा तो ऐसी रहती है कि अल्पकाल में, एक समय में यदि वह उदय असत्ताको प्राप्त होता हो, तो हम इन सबमेंसे उठकर चले जायें, इतना आत्मा को अवकाश रहता है। तथापि 'निद्राकाल', भोजनकाल तथा अमुक अतिरिक्त कालके सिवाय उपाधिका प्रसंग रहा करता है, और कुछ भिन्नतर नहीं होता, तो भी आत्मोपयोग किसी प्रसंगमें भी अप्रधानभावका सेवन करता हुआ देखने में आता है, और उस प्रसंगपर मृत्युके शोकसे अत्यंत अधिक शोक होता है, यह निःसंदेह है।



ऐसा होनेसे और गृहस्थ प्रत्ययी प्रारब्ध जब तक उदयमें रहे तब तक 'सर्वथा' अयाचकताका सेवन करनेवाला चित्त रहनेमें ज्ञानीपुरुषोंका मार्ग निहित है, इस कारण इस उपाधियोगका सेवन करते हैं। यदि उस मार्गकी उपेक्षा करें तो भी ज्ञानीका अपराध नहीं करते, ऐसा है, फिर भी उपेक्षा नहीं हो सकती। यदि उपेक्षा करें तो गृहाश्रमका सेवन भी वनवासीरूपसे हो, ऐसा तीव्र वैराग्य रहता है।

सर्व प्रकारके कर्तव्यके प्रति उदासीन ऐसे हमसे कुछ हो सकता हो तो एक यही हो सकता है कि पूर्वोपार्जितका समताभावसे वेदन करना, और जो कुछ किया जाता है वह उसके आधारसे किया जाता है, ऐसी स्थिति है। हमारे मनमें ऐसा आ जाता है कि हम ऐसे हैं कि जो अप्रदिबद्धरूपसे रह सकते हैं, फिर भी संसार के बाह्य प्रसंगका, अंतर प्रसंगका, और कुटुम्बादि स्नेहका सेवन करना नहीं चाहते, तो आप जैसे मार्गच्छावानको उसके अहोरात्र सेवन करनेका अत्यंत उद्वेग क्यों नहीं होता कि जिसे प्रतिबद्धतारूप भयंकर यमका साहचर्य रहता है ? ज्ञानीपुरुषका योग होनेके बाद जो संसारका सेवन करता है, उसे तीर्थकर अपने मार्गसे बाहर कहते हैं।

कदाचित् ज्ञानीपुरुषका योग होनेके बाद जो संसारका सेवन करते हैं, वे सब तीर्थकरोंके मार्गसे बाहर कहने योग्य हों तो श्रेणिकादिमें मिथ्यात्वका संभव होता है और विस्वादिता प्राप्त होती है। उस विस्वादितासे युक्त वचन यदि तीर्थकरका हो तो उसे तीर्थकर कहना योग्य नहीं है।

ज्ञानीपुरुषका योग होनेके बाद जो आत्मभावसे, स्वच्छंदतासे, कामनासे, रससे, ज्ञानीके वचनोंकी उपेक्षा करके, 'अनुपयोगपरिणामी' होकर संसारका सेवन करता है, वह पुरुष तीर्थकरके मार्गसे बाहर है, ऐसा कहनेका तीर्थकरका आशय है।

ट्रस्ट के इस स्वानुभूतिप्रकाश के हिन्दी अंक (मार्च-२०१२) का शुल्क श्री शांतिलालभाई वेलजीभाई देढीया, अंधेरी, मुंबई (मो.०९८२९२२८२९९) के नाम से साभार प्राप्त हुआ है, जिस कारण से यह अंक सभी पाठकों को भेजा जा रहा है।

द्रव्यदृष्टि प्रकाश पत्रांक-५१ पर पूज्य भाईश्री शशीभाई का प्रवचन, दि.५-९-१९९१

‘आत्मार्थी...शुद्धात्म सत्कार।

पत्र मिला। परम कृपालु गुरुदेवश्रीके मुखारविंदसे मुझ संबंधी निकले सहज उद्गार आपको अमुक-अमुक स्थानोंके भाईयोंसे ज्ञात हुए सो आप सबने स्वाभाविक प्रसन्नता और उत्साहपूर्वक मुझे लिखे, सो जाने।

पूज्य गुरुदेवश्रीने सोगानीजीके बारेमें प्रशंसाके शब्द विहारके दौरान अमुक-अमुक स्थानमें, अमुक-अमुक गाँवमें, व्यक्त किये हैं। (अतः) जो उनके परिचयमें आये थे उन्होंने पत्रके द्वारा (लिखा था) कि, फलाने गाँवमें गुरुदेवश्री आपके बारेमें ऐसा बोले, आपके विषयमें ऐसा बोले। ऐसी प्रसन्नता (और) उत्साहपूर्वक उन लोगोंने लिखा कि, आपके लिए ऐसे शब्द इस्तेमाल किये हैं, ऐसे शब्द इस्तेमाल किये हैं, आपके बारेमें ऐसा बोले हैं... ऐसा बोलते हैं... इसकी पहुँच उन्होंने (इस पत्रमें) लिखी है कि, आप सबने जो लिखा सो मैंने जाना।

‘मुक्तिनाथकी इस दास प्रत्ये....’ मुक्तिनाथ अर्थात् गुरुदेवश्री। बादमें तो बहुत लोग परिचयमें आये थे इसलिये अलग-अलग किसी-किसीके पत्रका उत्तर दिया है। सबको (उत्तर) नहीं दिया लेकिन किसी-किसीको उत्तर दिया है।

‘मुक्तिनाथकी इस दास प्रत्ये....’ यानी गुरुदेवश्रीके प्रति अपना दासत्व व्यक्त किया है। ‘सहज कृपादृष्टि...’ अर्थात् गुरुदेवश्रीकी जो मेरे पर सहज कृपादृष्टि है, वह ‘इस बातका द्योतक है...’ (यानी कि) इस बातको प्रकाशित करती है, स्पष्ट करती है, ‘कि अति उमंगभरी मुक्तिसुंदरी अप्रतिहतभावे, मुझ कृतकृत्यके साथ, महा आनंदमयी अस्खलित, परमगाढ़ आलिंगनयुक्त रहकर शीघ्रातिशीघ्र कृतकृत्य होना चाहती है।’ मोक्षकी भावना भायी है। गुरुदेवश्रीने मेरी जो प्रशंसा की है, इस परसे ऐसा लगता है कि, मेरा मोक्ष अब शीघ्र ही हो जायेगा। बिलकुल साहित्यकी भाषा

जैसी भाषा इस्तेमाल की है। परंतु सीधा इसका भावार्थ ऐसा है कि, अब मेरा बहुत अल्पकालमें मोक्ष हो जायेगा। गुरुदेवश्रीकी ऐसी कृपादृष्टिसे मुझे ऐसा लगता है कि मेरा मोक्ष अभी बहुत समीप है। वरना उनकी कृपादृष्टि नहीं होती। मेरा मोक्ष होनेवाला हो तो उनकी कृपादृष्टि होवे। इस प्रकार सांकेतिक बात की है। जैसे फलाना स्वप्न आया इसलिये ऐसा होगा, वैसे गुरुदेवके श्रीमुखसे मेरी प्रशंसा हुई, इस परसे ऐसा लगता है कि, अब मेरी मुक्ति समीप है। उनकी कृपादृष्टि यह सूचित करती है।



अब, (देखिये !) इसमें क्या लिया है कि, जो मुक्ति है उस पर जोर नहीं दिया। उनकी जो कथन शैली है उसमें मुक्तिकी पर्याय पर उनका जोर नहीं है। (क्या लिखते हैं ?) ‘मुक्तिसुंदरी अप्रतिहत भावे,...’ यानी (कहीं भी) रुके बिना - भावसे पीछेहट हुए बिना - साधकदशामें कहीं भी भावमें गिरावट आये बिना मुक्तिरूपी स्त्री मेरे साथ आलिंगन करके कृतकृत्य होना चाहती है ! (यानी कि) मैं तो कृतकृत्य ही हूँ !! मैं कोई अकृतकृत्य नहीं हूँ, मैं तो कृतकृत्य ही हूँ। परंतु पर्याय कृतकृत्य होनेके लिए अब मेरी ओर आती है। ऐसा लिखकर भाषा अलंकारसे भी उन्होंने द्रव्यकी प्रधानता और पूर्ण मुक्त पर्यायकी भी गौणता - इस शैलीसे बात की है।

‘परम पिताश्रीने...’ गुरुदेवके लिए दूसरा विशेषण इस्तेमाल किया है। गुरुदेवश्रीके लिए कितने-कितने विशेषण इस्तेमाल किये हैं - इसकी अलग छँटनी करो ! कैसे-कैसे विशेषण इस्तेमाल किये हैं। ये तो भक्तिके प्रकरणमें ले सकते हैं। उनके जीवन-चरित्रमें ‘गुरु-भक्तिका प्रकरण हमने अलगसे लिया है तो उन्होंने भक्तिवश गुरुदेवश्रीके

लिए कैसे-कैसे बहुमान सूचक शब्दोंका प्रयोग किया है !

‘परम पिताश्रीने हम सब पुत्र मण्डलको अटूट लक्ष्मीभण्डार...’ (अटूट माने) कभी खाली न हो, टूटे नहीं वैसा। गुरुदेवने ‘हमको - सब पुत्र मण्डलको’ - हम सब इनके पुत्र मण्डल हैं, और वे हमारे परमपिता हैं - धर्मपिता हैं। उन्होंने लक्ष्मीका भण्डार दिया है। जैसे बाप बेटेके लिए विरासतमें पूँजी छोड़कर जाता है न ! वैसे भण्डार दिया है।

‘(दृष्टिरूपी चाबी द्वारा खोलकर)...’ भण्डार भी दिया है और इसकी चाबी भी, तिजोरीके साथ दी है कि, इस चाबीसे खोलकर अंदरसे जो चाहिए वह निकाल लेना, अंदर कुछ कम होनेवाला नहीं । यह अक्षय भण्डार है। **‘भोग हेतु प्रदान किया है,...’** बस ! भोगो ! आनंदको भोगो ! सुखी हो जाओ सब ! **‘इसे नित्य भोगो, नित्य भोगो, यह ही भावना है।’** आप सभी मुमुक्षु भाई मुझे पत्र लिखते हो तो उन्होंने जो ज्ञानभण्डार दिया है, ज्ञानलक्ष्मीका भण्डार दिया है, वह हमारे पिताकी विरासत है, उसे हम सब भोगें !

‘तीर्थकरयोग सूचित करता है...’ यह गुरुदेवके (लिए) तीर्थकरयोग शब्द लिया ! भावी तीर्थकर हैं न ! उनका अभी योग हुआ है। **‘तीर्थकर योग सूचित करता है कि सब सज्जन पुत्रगण इस भोगको निःसंदेह भोगते हुए नित्य अमर रहेंगे।’** उनकी हमें भेट हुई है, इससे यह सूचित होता है कि सब सज्जन पुत्रगण इस ज्ञानभण्डारको भोगते हुए नित्य निःसंदेह अमर हो जायेंगे। सभी शाश्वतपदको प्राप्त करेंगे - सब मुक्तिकी राह पर आयेंगे। बाकी मूलस्वरूपमें तो ऐसी पर्यायकी बात नहीं है, ऐसा कहकर नियमसारकी गाथाका उद्धरण किया है।

‘स्थानो न क्षायिकभावनां, के क्षायोपशमिक तणां नहीं,...’ (अर्थात्) मेरे आत्मद्रव्यमें क्षायिकभावका कोई स्थान नहीं, क्षयोपशमभावका भी कोई स्थान नहीं। **‘स्थानो न उपशमभावनां, के उदयभाव तणां नहीं।’** (अर्थात्) उपशमभावका भी कोई स्थान नहीं

और उदयभावका भी कोई स्थान नहीं। चारों प्रकारकी पर्याय यानी कि किसी भी प्रकारकी पर्यायका स्थान मेरे स्वरूपमें नहीं है। यह नियमसारजीकी ४१ वीं गाथा है। शुद्धभाव अधिकारकी गाथा ली है। फिर यह पद लिया है, जिसे आगे खुद लिख चुके हैं।

‘गुण अनंतके रस सबै, अनुभौ रसके माहिं, यातैं अनुभौ सारिखौ, और दूसरो नाहि।’

एक स्वानुभवमें अनंतगुणका रस है। उस अनुभव समान कोई रस नहीं है। परिणाममें अनुभवरस समान कोई रस नहीं है - दूसरा कोई रस नहीं है। अनंतगुणका रस उसमें आता है इसलिए अनुभव जैसा कोई रस नहीं है। अनुभवका रस है सो अनुभवका रस है। जो शब्दातीत है, वचनातीत है, विकल्पातीत है, मनातीत है, अचिंत्य है, वास्तवमें तो वह अचिंत्य है।

‘पृथक्-पृथक् पत्रोंकी पहुँच संभव नहीं,...’ क्या (कहते हैं) ? अलग-अलग काफी भाइयोंके पत्र मिले हैं - ऐसा (कहा) न ! कि अमुक-अमुक स्थानोंसे भाइयोंने पत्र लिखे हैं, उन सभीको अलग-अलग पहुँच लिखना संभव नहीं। इतनी अधिक प्रवृत्तिमें खुद उलझना नहीं चाहते थे। **‘अतः सहज मिलनेपर आप उन भाइयोंको मेरा यथायोग्य स्नेह बोल देवें...।’** अतः सहज आपका मिलना होवे तब सहज ही हमारा स्नेह बोल दीजियेगा कि, सबको स्नेह-स्मरण कहलवाये हैं।

‘सर्व भाइयोंके नित्य आनंदका निरीच्छकपने इच्छुक।’ सभी भाइयोंको नित्य आनंदकी प्राप्ति हो ऐसी निरीच्छकभावसे इच्छा है, इच्छा भी निरीच्छकभावसे है। देखो ! कैसा शब्द लिया है ! इच्छा है लेकिन वीतरागभावपूर्वक इच्छा है, किसी रागभावसे ऐसी इच्छा नहीं। **‘मात्र मोक्ष अभिलाषी, निहालचंद्र सोगानी’**

मुमुक्षु :- यह पत्र ऐसा है जैसे अंतिम संदेश दिया हो !

पूज्य भाईश्री :- हाँ, ऐसा है।

पहले पैराग्राफमें पत्रकी पहुँच लिखी है। दूसरे पैराग्राफमें (लिखे गये) पत्रोंमें गुरुदेवश्रीने उनको याद किया, (इनकी) प्रशंसा की उस परसे खुदकी मुक्तदशा समीप है - ऐसी गुरुदेवश्रीकी कृपादृष्टिका संकेत है ! गुरुदेवकी कृपादृष्टिका संकेत ऐसा है कि, अब मेरी मुक्ति नजदीक है, मेरी मुक्ति ज्यादा दूर नहीं। और हमें ज्ञानका बड़ा भण्डार दिया है। अतः उस ज्ञानभण्डारको सभी भोगो। स्वयंने भावना व्यक्त की है कि, सभी मुमुक्षुजन भी गुरुदेवश्रीने जो कुछ ज्ञानभण्डार दिलाया है उसका उपभोग करें ! सभी हितको पाएँ ! यह तो सीधी बात है। जीव तो सभी एक सरीखे हैं। कोई हीनाधिक तो है नहीं, फिर क्यों सभीको प्राप्ति न हो ? (इसलिए कहते हैं) सभी प्राप्त हो !

ऐसा ज्ञानभण्डार खुला रख दिया, कोई चाहे जितना अंदरसे ले और लूट ले, सिर्फ ले उतना नहीं परंतु लूट ले तो भी इसमें कोई कमी आनेवाली

नहीं है। उतना का उतना भरा रहेगा। ऐसा तीर्थकरयोग प्राप्त हुआ है तो सभी मुमुक्षुजन इस ज्ञानभण्डारको भोगत-भोगते अमर हो जायें। ऐसी भावना भायी है।

मुमुक्षु :- सज्जन पुत्रकी जिम्मेवारी बढ़ गई !

पूज्य भाईश्री :- स्वाभाविक ही है। गुरुदेव जैसे महापुरुषका योग हुआ तो जीवनमें यथोचित बदलाव तो सामान्य जीवोंके जीवनसे आना ही चाहिए।

मुमुक्षु :- अपनी अंतर परिणतिकी बात की है।

पूज्य भाईश्री :- हाँ, वही तो लिखा कि, मेरी मुक्ति समीप है ऐसा मुझे लगता है। 'इस बातका द्योतक है...' यानी कि मुझे ऐसा लगता है कि मेरी मुक्ति अभी समीप है। ऐसा है कि, जिसको जो अंदरमें लगता हो वही बात कोई न कोई बहानेसे बाहर आनेवाली है। सीधी बात है।

पूज्य श्री निहालचंद्रजी सोगानी के १०१ वें जन्मजयंति महोत्सव प्रसंग पर सुवर्णपुरी सोनगढ़ में धार्मिक कार्यक्रम

पूज्य गुरुदेवश्री के महापुराण के पात्र ऐसे पूज्य निहालचंद्रजी सोगानीजी की १०१ वीं जन्मजयंति उनकी साधनाभूमि सुवर्णपुरी में दि.३०-४-२०१२ से दि.२-५-२०१२ त्रिदिवसीय धार्मिक कार्यक्रम सहित अत्यंत आनंद उल्लासपूर्वक मनाने का निश्चित किया गया है। यह धार्मिक कार्यक्रम सोनगढ़ स्थित 'गुरुगौरव' हॉल में मनाया जायेगा।

इस प्रसंग पर प्रातः पूज्य बहिनश्री की तत्त्वचर्चा (आश्रम में), जिनदर्शन तथा पूजन जिनमंदिर में, पूज्य गुरुदेवश्री का सीडी प्रवचन स्वाध्याय मंदिर में, तत्पश्चात् पूज्य भाईश्री शशीभाई के द्रव्य दृष्टि प्रकाश ग्रंथ पर गुरुगौरव होल में प्रवचन, दोपहर में पूज्य गुरुदेवश्री का प्रवचन, पूज्य सोगानीजी का गुणानुवाद 'गुरुगौरव' हॉल में, रात्रि में पूज्य गुरुदेवश्री का प्रवचन और गुरुगौरव होल में भक्ति एवं सांस्कृतिक कार्यक्रम सहित मनाया जायेगा।

दि.२-५-२०१२ पूज्य सोगानीजी के जन्मजयंति दिन पर पूज्य भाईश्री के प्रवचन के बाद जन्मवधामणा और भक्ति की जायेगी। इस प्रसंग में भारतवर्षीय सभी मुमुक्षु भाई-बहनों को पधारने का हार्दिक निमंत्रण है। आनेवाले मुमुक्षुओं को संख्या सहित अपने आने की जानकारी संस्था के कार्यालय में देने की विनंती।

संपर्क : श्री सत्सुख प्रभावक ट्रस्ट, ५८०, जूनी माणेकवाडी, भावनगर-३६४००१

आयोजक : श्री सत्सुख प्रभावक ट्रस्ट, भावनगर

प्रयोजन है। पश्चात् स्वयं अपनेमें स्थिर हो तो स्वानुभूति प्रगट होती है।

उच्चसे उच्च शुभभाव भी विभाव है, अपना स्वरूप नहीं है; इसलिये उससे अपनेको पृथक् करता है। फिर वह जानता है कि पर्याय वह अंश है और गुण है वह भी एक-एक भेदरूप है, - ऐसा जानकर अखंड सामान्य चैतन्यपर दृष्टि देता है जिससे विशेष पर्यायें प्रगट होती हैं, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट होते हैं। 'सर्व गुणांश सो सम्यक्त्व' - सर्व गुणोंके अंश प्रगट होते हैं। चैतन्यमें विशेष लीनता होनेपर मुनिदशा आती है और अन्तर्मुहूर्त-अन्तर्मुहूर्तमें निर्विकल्पदशा होती है।-स्वरूपमें बारम्बार जम जाते हैं और उसीमेंसे पूर्ण वीतरागदशा प्रगट होती है।

(स्वानुभूतिदर्शन-२६७)



प्रश्न :- हम ज्ञानसे पृथक् करते थे ऐसी हमारी भूल होती थी; तो क्या ज्ञायकको ज्ञानसे भिन्न नहीं मानना ?

समाधान :- मैं अपूर्ण ज्ञान जितना नहीं हूँ, पूर्ण शाश्वत हूँ। मति-श्रुत-अवधि-मनःपर्ययज्ञान वे सब क्षयोपशम ज्ञानके भेद हैं, वह मेरा पूर्ण स्वभाव नहीं है। पूर्ण स्वभावको ग्रहण करना है, अपूर्णको नहीं। राग और निमित्त के कारण जो पर्यायें होती हैं उन्हें ग्रहण न करके जो पूर्ण स्वरूप है उसे ग्रहण करना चाहिये। यह सब अपूर्ण पर्यायें हैं उनका ज्ञान करना है। वे चैतन्यकी साधनामें प्रगट होनेवाली पर्यायें हैं, उनसे भेदज्ञान नहीं करना है।

(स्वानुभूतिदर्शन-२६८)



प्रश्न :- द्रव्यकी कोटि उच्च है और पर्याय की निम्न है, वह प्रमाणकी अपेक्षासे कहा जाता है या नयकी ?

समाधान :- वह नय अपेक्षासे बराबर है। द्रव्यकी कोटि उच्च ही है। द्रव्य शाश्वत, अनादि-अनंत है, द्रव्य में अनन्तगुण भरे हैं तथा अनन्त शुद्ध पर्यायें प्रगट करने की शक्ति भी उसमें है, इसलिये द्रव्यकी कोटि उच्च है। पर्याय प्रतिक्षण पलटती है, इसलिये उस अपेक्षा पर्यायकी कोटि निम्न है।

पर्यायका वेदन होता है, द्रव्यका वेदन नहीं होता। द्रव्य दृष्टि में आता है और पर्याय वेदनमें आती है तथा पर्यायमें केवलज्ञान प्रगट होता है, उस अपेक्षासे पर्याय पूजनीय एवं वन्दनीय कही जाती है।

द्रव्यकी कोटि उच्च है, क्योंकि द्रव्य अनन्तशक्तियोंसे परिपूर्ण है, द्रव्यकी दृष्टि करने से मुक्तिका मार्ग शुरू होता है, उसके बिना मुक्तिमार्गकी शरूआत नहीं होती, उस अपेक्षासे द्रव्य की कोटि उच्च है।

पर्याय प्रगट वेदनमें आये तथा वह प्रगट हो, तब द्रव्य जैसा है वैसा अपने वेदनमें आता है। इसलिये कभी-कभी मुख्यता कही जाती है, परन्तु वस्तुस्थितिसे देखें तो द्रव्यकी कोटि उच्च है।

(स्वानुभूतिदर्शन-२६९)

आवेदन पत्र

(पूज्य सोगानीजी की १०१ वीं जन्म-जयंती में आने की जानकारी)

नाम : गाँव-शहर :

पहुँचने कि ता. बड़े छोटे

साफ अक्षरों में उपरोक्त फॉर्म भरकर निम्न पते पर भेजने का अनुरोध है।

संपर्क : श्री सतसुख प्रभावक ट्रस्ट, ५८०, जूनी माणेकवाडी, भावनगर-३६४००१

पूज्य बहिनश्री की तत्त्वचर्चा

प्रश्न :- पात्र शिष्यको सम्यग्दर्शन प्राप्त करने हेतु कैसा चिंतन-मनन करना चाहिये कि जिससे उसे शीघ्र प्रयोजनकी सिद्धि हो ?

समाधान :- उसके निरन्तर ज्ञायकका चिन्तन होना चाहिये। मुझे तो ज्ञायक ही चाहिये, अन्य कुछ नहीं। सर्व शुभाशुभ विभावभाव हैं उनमें कहीं शान्तिका अनुभव नहीं होता। मेरा ज्ञायकभाव ही सुखरूप एवं आनन्दरूप है। इसप्रकार ज्ञायकका चिन्तन-मनन हो और उस हेतु बारम्बार उसीका अभ्यास, उसी प्रकारके श्रुतका चिन्तन करता रहे। द्रव्य-गुण-पर्याय क्या हैं ? निमित्त-उपादान क्या हैं ? ऐसे प्रयोजनभूत तत्त्वोंका विचार अनेक प्रकारसे करता रहे। मैं ज्ञायक हूँ; परपदार्थोंका मैं कर्ता नहीं हूँ; प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र है। - ऐसा सर्व चिन्तन ज्ञायककी सिद्धि हेतु करे।

मेरा ज्ञायक ज्ञायकरूपसे कैसे परिणमित हो जाय ऐसी भावना निरन्तर वर्तती है। बारम्बार उसीका चिन्तन-मनन होता है। प्रतिक्षण ज्ञायकका चिन्तन-मनन रहे ऐसा उसका प्रयत्न होता है, उसमें उसे थकान नहीं लगती; प्रयत्न चालू ही रखता है।

(स्वानुभूतिदर्शन-२६६)



प्रश्न :- दो द्रव्योंकी भिन्नता तो पूज्य गुरुदेवके तथा आपके प्रतापसे कुछ-कुछ समझमें आयी है; किन्तु द्रव्य-गुण-पर्यायकी कैसे भिन्नता करके अनुभव करें तत्सम्बन्धी मार्गदर्शन दीजिये।

समाधान :- एक द्रव्यसे दूसरा द्रव्य अत्यन्त जुदा है, उनके प्रदेशभेद है। और विभाव वह अपना स्वभाव नहीं है। इसलिये शास्त्रमें भेदज्ञान करनेको कहा है कि विभावसे विभक्त हो परन्तु गुण-पर्यायसे भेदज्ञान करनेका नहीं कहा है। आत्मा के गुण-पर्यायोंके लक्षणोंको पहिचानकर, उनका ज्ञान करके,

उनके भेदमें नहीं रुकते हुए एक अखंड चैतन्यपर दृष्टि रखनेसे उसमें जो अनन्तगुण हैं उनकी शुद्धपर्याय प्रगट होती है। गुण-पर्यायों से भेदज्ञान करनेका नहीं रहता, परन्तु उनका ज्ञान करना रहता है।



आत्मा अनन्तगुणोंसे गूँथा हुआ अभेद तत्त्व है। उसमें अनन्तगुण किस जातिके हैं कि-ज्ञानका लक्षण जानना, आनन्दका लक्षण निराकुलता, चारित्रका लक्षण स्थिरता; ज्ञान जाननेका कार्य करे, आनन्द आनन्दका कार्य करे।- इस प्रकार गुणोंको उनके कार्य और लक्षणसे पहिचाना जा सकता है। उन्हें पहिचानकर गुणभेदमें रुकना वह रागमिश्रित विकल्प है। वह बीचमें आये बिना नहीं रहता। परन्तु एक अखंड चैतन्यपर दृष्टि करके वहाँ स्थिर हो तो उसे स्वानुभूति प्रगट होती है। विकल्प तोड़कर मैं निर्विकल्प तत्त्व हूँ, इस प्रकार सामान्य अस्तित्वपर निःशंकदृष्टि करके, उसमें स्थिरता-लीनता-आचरण करे तो स्वानुभूति प्रगट होती है। दो द्रव्य जुदे हैं वह तो दिखाई देता है, तथापि भेदज्ञान तो परसे तथा विभावसे करना रहता है और गुण-पर्यायका ज्ञान करनेका है। आत्मा अनन्तानन्त शक्तियों से परिपूर्ण है; अनन्त द्रव्य उसके निकट हैं; तथापि अपना अस्तित्व सँभाले रखता है। उसके अनन्त गुण-धर्म हैं, उन सबका ज्ञान करनेके लिये उनके लक्षण और कार्यको पहिचानना। फिर उनके भेदविकल्पमें नहीं रुकना है। गुण तो अपना स्वरूप है, वे अपनेसे जुदे नहीं हैं। इसलिये उनका ज्ञान करके गुण-भेदोंमें या पर्यायभेदमें न रुककर चैतन्यपर दृष्टि रखना। उन्हें जानना कि यह गुण है, यह पर्याय है, परन्तु विकल्प में रुकनेका कोई प्रयोजन नहीं है, मात्र जाननेका

(शेष अंश पृष्ठ संख्या-२० पर)

आत्मयोगी, मुमुक्षुजीवों के परम तारणहार सौम्यमूर्ति
पूज्य भाईश्री शशीभाई के वार्षिक समाधिदिन पर
श्रद्धासुमन सहित कोटि कोटि प्रणाम



हे करुणासिंधु ! इस निकृष्टकाल में स्वानुभूतिमय मोक्षमार्गपर्यंत पहुंचने के लिये आत्मउन्नति का प्रशस्त क्रम निष्कारण करुणताशीलतावश प्रकाशकर हमारे पथप्रकाशक बनकर निर्भ्रांतदर्शन का मार्ग बतलाकर अपूर्व और अनुपम उपकार किया है। उसे वाणी द्वारा व्यक्त करना अशक्य और असंभव है।

फिर भी आपके स्मृतिदिन पर आपके उपकारों को हृदयगत करके
आत्महित को साधे यही भावना है।

मन-वचन-काय योग से जाने-अनजाने में जो कोई विराधना, अशातना,
अपराध हुए हैं उन सबकी शुद्ध अंतःकरणपूर्वक क्षमा याचते हैं।

आप परमकृपालु परमदयाल के चरणों में शुद्धचित्त से
नमस्कार हो, नमस्कार हो।

- स्वानुभूतिप्रकाश परिवार